

2020-21

**INDIAN
AGRICULTURE
(ECONOMICS + GEOGRAPHY)**

अथर्व
IAS एकेडमी इन्दौर

www.atharvaiasacademyindore.com

(+91) 98260-41759

20-A, Professor Colony, Opposite Apple Hospital, indore

भारतीय कृषि: भूमिका, स्वरूप तथा फसलों का ढांचा (INDIAN AGRICULTURE: ROLE, NATURE AND CROPPING PATTERN)

कृषि पर इस खंड में हम निम्नलिखित विषयों पर चर्चा करेंगे:

-भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की भूमिका

-भारतीय कृषि का स्वरूप

-भारत में फसलों का ढांचा तथा इस ढांचे के निर्धारक कारक

-भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की भूमिका (ROLE OF AGRICULTURE IN INDIAN ECONOMY)

भारत आज के विकसित देशों से पुराना देश है। इसकी कृषि कई शताब्दी पहले ही सापेक्षिक दृष्टि से परिपक्वता की स्थिति में पहुंच चुकी थी और उस समय देश में कृषि तथा उद्योग में संतुलन था जिससे कृषक वर्ग की दशा इतनी खराब नहीं थी जितनी आज है। यह स्थिति 18वीं शताब्दी के मध्य तक बनी रही। भारत में अंग्रेजों की घुसपैठ और उनकी मिलों में बने माल की बिक्री से भारतीय अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। हथकरघा और चर्खा नष्ट हो गया। सत्य तो यह है कि समस्त भारत में जो कृषि और निर्माण उद्योगों में सहयोग था वह भी समाप्त हो गया।

ब्रिटिश शासकों की औपनिवेशिक नीति के फलस्वरूप इस देश में कृषि का कोई विकास नहीं हुआ। इन शासकों ने जमींदारों का एक नया वर्ग खड़ा कर दिया जिसका मुख्य काम ही किसानों का शोषण करना था। यह वर्ग मध्यस्थों व परजीवियों का वर्ग था। जमींदार कुल कृषि उत्पादन का एक बहुत बड़ा हिस्सा लगान के रूप में काश्तकारों व किसानों से छीन लेते थे जिससे वास्तविक काश्तकार के पास केवल जीवन-निर्वाह योग्य साधन ही बच पाते थे। इसलिए जहां एक ओर उनकी स्थिति बदतर होती चली गई वहीं साधनों के अभाव में कृषि में निवेश भी बढ़ नहीं पाया (जमींदार चाहते तो कृषि में निवेश कर सकते थे परंतु वह अधिकतर साधनों का अपव्यय विलासिता कि उपभोग वस्तुओं पर कर देते थे)। इस प्रकार स्वतंत्रता के पूर्व कृषि व्यवसाय जीवन निर्वाह का साधन मात्र बनकर रह गया। जमींदार और महाजन, ऋणों के भुगतान की आड़ में किसानों की जमीन हड़प जाते थे। इससे खेतिहर मजदूरों का एक नया वर्ग पैदा हो गया। यह लोग अन्य किसानों की भूमि पर मजदूरी करने लगे। मजदूरी का स्तर बहुत ही कम

होता था। किसानों का एक बहुत बड़ा वर्ग कृषि से केवल जीवन निर्वाह योग्य आय ही अर्जित कर पाता था। यह स्थिति काफी समय तक बनी रही। वस्तुतः 1966 के बाद हरित क्रांति के आगमन से स्थिति में कुछ बदलाव आया और कुछ किसानों ने कृषि को व्यवसायिक आधार पर अपनाया। अब हम विस्तार के साथ विचार करेंगे कि भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि का क्या स्थान है।

1. राष्ट्रीय आय में कृषि का भाग - प्रथम विश्व युद्ध के समय भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग दो तिहाई कृषि से प्राप्त होता था। इसका प्रमुख कारण औद्योगिक विकास का ना होना था। स्वतंत्रता के बाद, विशेष तौर पर योजनाओं को लागू करने के बाद से, द्वितीयक व तृतीयक क्षेत्रों के विकास के कारण कृषि का हिस्सा लगातार कम होता गया। 1950-51 में साधन लागत पर सकल घरेलू उत्पाद में कृषि व सहायक गतिविधियाँ (इसमें कृषि, वानिकी व लट्ठा बनाना तथा मत्स्य शामिल है) का हिस्सा 53.1 प्रतिशत था जो कम होते होते 1990-91 में 29.6 प्रतिशत तथा 2013-14 में 13.9 प्रतिशत रह गया (2004-05 की कीमतों पर)। 2011-12 को आधार वर्ष मानकर तैयार की गई नई संख्या के अनुसार, मूल कीमतों पर सकल वर्धक मूल्य (Gross Value Added) में कृषि व सहायक गतिविधियों का हिस्सा 2016-17 में 15.3 प्रतिशत तथा 2017-18 में 14.8 प्रतिशत था।

राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा अक्सर आर्थिक विकास का सूचक माना जाता है। यद्यपि संपन्न देशों में कृषि बहुत विकसित है तथापि इन देशों की कृषि पर निर्भरता बहुत कम है। उदाहरण के लिए अमेरिका और इंग्लैंड में कृषि से केवल राष्ट्रीय आय का 2 प्रतिशत हिस्सा प्राप्त होता है इससे सिद्ध होता

है कि जैसे जैसे कोई देश विकास करता है उसकी कृषि पर निर्भरता कम होती जाती है।

2. रोजगार की दृष्टि से कृषि का महत्व- 1973 में कार्यकारी जनसंख्या का 73.9 प्रतिशत कृषि एवं संबद्ध व्यवसायों लगा हुआ था। या प्रतिशत संख्या 1993-94 में गिरकर 64.8 तथा 2011-12 में 48.9 हो गई। वर्ष 2016 में पुरुष श्रम शक्ति का 43 प्रतिशत तथा स्त्री श्रम शक्ति का 61 प्रतिशत कृषि में लगा हुआ था। जनसंख्या में तेज वृद्धि होने के कारण, कृषि में लगे हुए लोगों की वास्तविक संख्या में बहुत बढ़ोतरी हुई है। अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों का उपयुक्त विकास ना होने के कारण उनमें रोजगार अवसरों में वृद्धि बहुत कम हो पाई है जिससे मजबूरन बहुत से लोगों को कृषि पर काम करना पड़ा है हालांकि भूमि पर उनकी सीमांत उत्पादकता बहुत कम है। इससे अल्प रोजगार तथा छिपी हुई बेरोजगारी जैसी समस्याएं पैदा होती हैं।

अधिकतर अल्पविकसित देशों में कार्यकारी जनसंख्या की कृषि पर अत्यधिक निर्भरता दिखाई देती है। वर्ष 2016 में पाकिस्तान में पुरुष श्रम शक्ति का 36 प्रतिशत तथा स्त्री श्रम शक्ति का 70 प्रतिशत कृषि में कार्यरत था। इसी अवधि में इथियोपिया में पुरुष श्रम शक्ति का 78 प्रतिशत तथा स्त्री श्रम शक्ति का 62 प्रतिशत कृषि में लगा हुआ था। इसके विपरीत विकसित देशों में जनसंख्या का बहुत छोटा-सा भाग कृषि में लगा हुआ है। उदाहरण के लिए 2016 में जापान और फ्रांस में पुरुष श्रम शक्ति का केवल 4 प्रतिशत तथा इंग्लैंड व अमेरिका में मात्र 2 प्रतिशत कृषि कार्यों में लगा हुआ था।

3. बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्यान्नों की आपूर्ति- भारत जैसे श्रम- आधिक्य वाले देशों में जनसंख्या के भारी दबाव के कारण खाद्यान्नों की मांग में तेज वृद्धि होती है। इसके अलावा, गरीबी के कारण खाद्य उपभोग का वर्तमान स्तर बहुत कम है। इसलिए प्रति व्यक्ति आय बढ़ने पर सबसे पहले खाद्यान्नों की मांग बढ़ती है। (दूसरे शब्दों में, विकासशील देशों में खाद्यान्न की मांग की आय-लोच बहुत ज्यादा है) इसलिए यह आवश्यक है कि कृषि क्षेत्र में उत्पादन लगातार बढ़ता रहे वरना खाद्य संकट पैदा हो सकता है। बहुत से विकासशील देश इस चरण में से गुजर रहे हैं तथा उन्हें खाद्यान्नों की मांग को पूरा करने के लिए भारी मात्रा में आयात करने पड़ रहे हैं।

4. पूंजी निर्माण में सहयोग- सभी अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि आर्थिक विकास के लिए पूंजी निर्माण आवश्यक है। जब तक पूंजी निर्माण की दर काफी अधिक नहीं हो जाती तब तक आर्थिक विकास नहीं हो सकता। क्योंकि भारत जैसे विकासशील देशों में कृषि सबसे बड़ा सेक्टर है इसलिए पूंजी निर्माण में उसका अधिक सहयोग अनिवार्य है। यदि यह सेक्टर ऐसा कर पाने में असफल होगा तो आर्थिक विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाएगी। कृषि से अतिरेक (Surplus) प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित नीतियों को अपनाने की बात की जाती है : (1) कृषि से गैर कृषि क्षेत्रों की ओर श्रम व पूंजी का अंतरण; 2) कृषि पर इस प्रकार के कराधान कि उस पर करों का भार, उसे प्राप्त सरकारी सेवाओं के लाभ से अधिक हो; तथा (3) कृषि उत्पादों पर इस प्रकार कीमत नियंत्रण लगाना जिससे विनिमय की शर्तें कृषि के प्रतिकूल हो जाएं (या ऐसी बहू-विनिमय दरें लगाई जाएं जो कृषि के प्रतिकूल हों।) परंतु इस प्रकार की नीतियां लागू करना विकासशील देशों में बहुत कठिन होता है। इसलिए कृषि से अतिरेक की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कृषि उत्पादकता में तेज वृद्धि की जा सके।

5. औद्योगिक विकास के लिए कृषि का महत्व- भारत में औद्योगिक विकास की दृष्टि से कृषि का बहुत महत्व है। भारत में महत्वपूर्ण उद्योगों की जिन में सूती वस्त्र, जूट, चीनी तथा वनस्पति उद्योग उल्लेखनीय हैं, कृषि से ही कच्चे पदार्थों की प्राप्ति होती है। औद्योगिक क्षेत्र में लगे हुए लोगों के लिए

खाद्यान्नों के उत्पादन की जिम्मेवारी कृषि क्षेत्र पर ही है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्र में विनिर्माण उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का बाजार भी होता है। हरित क्रांति के बाद से (खासतौर पर पिछले दो-तीन दशकों में) बड़े किसानों की आय में काफी वृद्धि हुई है जबकि उनकी कर देयता नगण्य है। इससे उनकी क्रय शक्ति में बढ़ोतरी हुई है जिससे औद्योगिक वस्तुओं की मांग बढ़ी है। भारतीय उद्योगपति इस तथ्य से भली-भांति परिचित हैं तथा इस बाजार का लाभ उठाने के लिए अपनी उत्पादन व बिक्री नीतियों में परिवर्तन कर रहे हैं। घरेलू और रोजमर्रा की वस्तुओं जैसे चाय, साबुन, कपड़े, साईकिल, स्कूटर, रेडियो, टेलीविज़न इत्यादि के उत्पादक इस बाजार का अधिक से अधिक हिस्सा प्राप्त करने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। बहुत से बहुराष्ट्रीय नियमों की भी इस बाजार पर नजर है।

6. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और कृषि - बहुत लंबे समय तक तीन कृषि वस्तुओं चाय, पटसन तथा सूती वस्त्रों का भारत की निर्यात आय में 50 प्रतिशत हिस्सा था। यदि हम अन्य कृषि वस्तुओं जैसे कॉफी, तंबाकू, काजू, वनस्पति, तेल, चीनी इत्यादि को भी शामिल कर लें तो कृषि का निर्यात आय में हिस्सा 70 से 75 प्रतिशत तक पहुंच जाता है। कृषि वस्तुओं पर इतनी अधिक निर्भरता भारत के अल्प-विकास को प्रतिलक्षित करती थी। आर्थिक विकास के साथ-साथ उत्पादन में विस्तार व विविधीकरण हुआ जिससे निर्यात आय में कृषि का हिस्सा कम हुआ। उदाहरण के लिए 1961 में कुल निर्यात में कृषि निर्यातों का हिस्सा 44.3 प्रतिशत था। यह गिरते गिरते 1980-81 में 30.7 प्रतिशत तथा 2018-19 में 11.8 प्रतिशत रह गया। जहां तक आयातों का संबंध है, इसमें मुख्य हिस्सा पूंजी वस्तुओं व औद्योगिक मशीनरी का रहा है। लेकिन कुछ वर्षों में खाद्यान्नों की कमी को पूरा करने के लिए भारी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा है। इसके अलावा भारत डेयरी उत्पादों, फलों, सब्जियों, वनस्पति तेलों तथा कच्चे माल का भी आयात करता है।

7. गरीबी निवारण में भूमिका- जैसा कि ऊपर कहा गया है भारतीय अर्थव्यवस्था में सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा अब 15 प्रतिशत से भी कम रह गया है परंतु अभी भी लगभग आधी श्रम शक्ति कृषि क्षेत्र में कार्यरत है। इसके अलावा आम आदमी का अभी भी आधे से अधिक खर्च भोजन पर होता है क्योंकि कृषि कम आय वाले व निर्धन व्यक्तियों का जीवन आधार है तथा खाद्य सुरक्षा का मुख्य अस्त्र है। इसलिए गरीबी निवारण में उसकी भूमिका स्वतः सिद्ध है। वस्तुतः World Development Report 2008 द्वारा लगभग 25 वर्ष के अध्ययन से यह पाया गया कि

कृषि में एक प्रतिशत की संवृद्धि गरीबी को कम करने में गैर कृषि क्षेत्र की तुलना में 2 से 3 गुना अधिक प्रभावशाली है (चीन में या 3.5 गुना तथा लैटिन अमेरिका में 2.7 गुना प्रभावशाली है)। क्योंकि

विश्व भर में भारत में सर्वाधिक निर्धन व कुपोषित लोग वास करते हैं इसलिए कृषि को प्राथमिकता देने से गरीबी तथा कुपोषण कम करने में तथा समावेशी संवृद्धि (Inclusive growth) प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। जैसाकि भारत सरकार की रिपोर्ट State of Indian Agriculture 2011-12, में कहा गया है, सकल घरेलू उत्पाद में 8-9 प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि दर भी गरीबी निवारण नहीं कर सकती जब तक कि कृषि विकास और तेज गति से नहीं होता। हम अपने देश में समावेशीय संवृद्धि की तब तक कल्पना भी नहीं कर सकते जब तक कि कृषि विकास और तेज नहीं होता तथा जब तक देश के विभिन्न क्षेत्र (व उन क्षेत्रों में रहने वाले लोग) उससे लाभान्वित नहीं होते। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि "किसी भी सुधार प्रक्रिया या आयोजन प्रक्रिया में कृषि को 'केंद्र बिंदु' मानना होगा ताकि गरीबी व कुपोषण की समस्याओं का सही अर्थों में निदान किया जा सके तथा निर्धन लोगों को दीर्घकालीन खाद सुरक्षा प्रदान की जा सके।"

भारतीय कृषि का स्वरूप (NATURE OF INDIA'S AGRICULTURE)

आजादी के समय कृषि पिछड़ी अवस्था में थी। उसमें श्रम तथा भूमि की उत्पादिता कम थी। खेती का ढंग परंपरागत था। अधिकांश किसान पीढ़ियों पुरानी नीतियों से खेती करते थे। रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग नाम मात्र था। किसान प्रायः जीवन-निर्वाह के लिए ही खेती करते थे। दूसरे शब्दों में, बड़े पैमाने पर कृषि का वाणिज्यीकरण नहीं हुआ था। मुद्रा का महत्व गांव की अर्थव्यवस्था में कितना कम होगा, यह इसी से समझा जा सकता है कि 1951-52 में किसानों के उपयोग में लगभग 45 प्रतिशत अंश उनके ही द्वारा उत्पादित वस्तुओं का होता था। यह सब बातें अक्सर ही कृषि के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कही जाती हैं। इनसे कृषि क्षेत्र में एक सामान्य अल्प विकास और गुणात्मक परिवर्तन के अभाव का आभास तो मिलता है लेकिन भारतीय कृषि को परंपरागत और गति हीन कहना ही पर्याप्त नहीं है। रोग के लक्षण बताकर उसके कारणों की ओर ध्यान ना देना अधिक उपयोगी नहीं होगा। हमें स्वतंत्रता के समय कृषि के स्वरूप को समझने के लिए उस समय के भूमि संबंधों, कृषि जोतों के आकार, कृषि तकनीकों, सिंचाई की सुविधाओं, ग्रामों में व्यापक ऋणग्रस्तता और महाजनी पूंजी की भूमिका इत्यादि पर विचार करना होगा।

सामंती उत्पादन सम्बन्ध (Feudal Relations of Production)

भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम आजादी के बाद ही अपनाया गया है, उससे पहले देश में एक दूसरे से भिन्न अनेक भूधारण प्रणालियां थी थीं जिनमें से उल्लेखनीय प्रणालियां थीं- जमींदारी, महालवाड़ी और रैयतवाड़ी।

1947-48 में निजी स्वामित्व में कुल कृषि भूमि का 57 प्रतिशत जमींदारी प्रणाली के अंतर्गत आता था। व्यापकता की दृष्टि से रैयतवाड़ी प्रणाली का स्थान दूसरा था और इस व्यवस्था के अंतर्गत 38 प्रतिशत कृषि थी। महालवाड़ी प्रणाली के अंतर्गत केवल 5 प्रतिशत भूमि आती थी। वहीं जमींदारी प्रथा शोषण पर आधारित थी क्योंकि जमींदारी, काश्तकारों का तरह तरह से शोषण करके अधिकतम लगान वसूलने की कोशिश में रहते थे। रैयतवाड़ी प्रथा में भी बहुत रैयत भूमि को पट्टे पर उठा देते थे।

स्वतंत्रता के बाद बिचौलियों को समाप्त करने के लिए सरकार ने कुछ कदम उठाए। परंतु वे अपर्याप्त थे। जमींदारों ने केवल अपना रूप बदल लिया और वह दूरवासी भूस्वामी (absentee landlord) बन गए। आज भी इन लोगों का बहुत बड़े भूमि क्षेत्र पर अधिकार है। यह लोग पट्टे पर खेती करने वाले काश्तकारों और खेतिहर मजदूरों का शोषण करते हैं हालांकि पट्टेदारों (tenants) की सही संख्या के बारे में जानकारी नहीं है फिर भी ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि कृषि भूमि का लगभग 50 प्रतिशत लिखित या मौखिक पट्टेदारी के अधीन है। इसमें से बहुत से काश्तकार ऐसे हैं जो इच्छा अधीन या उप-काश्तकार हैं और भूमि पर उनका केवल तभी तक अधिकार है जब तक भू-स्वामी चाहे। स्पष्ट है कि इन लोगों का खूब शोषण होता है। खेतिहर मजदूरों की स्थिति और भी दयनीय है। इनमें से कई मजदूर तो लगभग बंधुआ मजदूरों की तरह काम करने को मजबूर हैं। इस प्रकार जहां तक भूमि संबंधों का प्रश्न है, वह आज भी अर्द्ध सामंती हैं और कृषि विकास में बाधक हैं।

महाजनी पूंजी और ग्रामीण ऋणग्रस्तता (Usurious Caption and Rural Indebtedness)

भारतीय कृषि पर महाजनी पूंजी का नियंत्रण बहुत मजबूत है और रंग ऋणग्रस्तता छोटे किसानों के जीवन का सामान लक्षण है। स्वतंत्रता से पहले अन्य संस्थाओं का विकास ना होने के कारण किसानों की महाजनों पर अत्यधिक निर्भरता थी। इसलिए उनकी मजबूरी का फायदा उठाकर महाजन उनका भरपूर शोषण करते थे। स्वतंत्रता के बाद सरकार ने महाजनों की गतिविधियों पर नियंत्रण लगाने के उद्देश्य से कई कदम उठाए। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कदम था वैकल्पिक संस्थाओं का विकास (विशेष रूप से सहकारी समितियों तथा बैंकों की कृषि वित्त में बढ़ती हुई भूमिका)। परंतु बहुत से छोटे किसान, खेतिहर मजदूर तथा अन्य गरीब ग्रामीण लोग आज भी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए महाजनों पर निर्भर

करते हैं। इसका प्रमुख कारण है कि अन्य संस्थाएं केवल उत्पादक कार्यों के लिए ऋण देती हैं जबकि इन लोगों को कई अनुवादक कार्यों जैसे शादी, सामाजिक उत्सव, मुकदमेबाजी के लिए भी ऋण की आवश्यकता पड़ती रहती है। इस प्रकार के ऋण अक्सर महाजनों से मिल जाते हैं जो अत्यधिक ब्याज लेते हैं, खाते बनाने में बेईमानी और गड़बड़ी करते हैं तथा कई अन्य तरीकों से इन अनपढ़ गरीब लोगों को ठगते हैं। एक बार महाजनों के चंगुल में फंस जाने पर निकल पाना इन लोगों के लिए बहुत मुश्किल होता है। या ग्रामीण ऋणग्रस्तता, सामाजिक व्यवस्था अथवा दूसरे शब्दों में उत्पादन संबंधों का परिणाम है। भारत में ग्रामीण क्षेत्र में उत्पादन संबंध आज भी अर्ध-सामंती हैं। खेतिहर और मजदूरों और छोटे किसानों का भूमि के मालिकों द्वारा शोषण ही उनकी आर्थिक दुर्दशा के लिए जिम्मेदार है और यही प्रधान रूप से उनकी ऋणग्रस्तता का कारण है।

श्रम बाजार की द्वयात्मकता (Labour Market Dualism)

भूमि पर जनसंख्या के अधिकतम दबाव के कारण कृषि क्षेत्र में मजदूरी औद्योगिक क्षेत्र में मजदूरी की तुलना में बहुत कम है। वैसे भी जहां औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिक संगठित होते हैं और अपने हितों की सुरक्षा के लिए संघर्ष कर सकते हैं वहां खेतिहर मजदूर असंगठित होते हैं और कुछ नहीं कर पाते। इससे श्रम बाजार में द्वयात्मकता पैदा होती है। कृषि से बाहर रोजगार अवसरों के अपर्याप्त विकास के कारण खेतिहर मजदूर कृषि से चिपके रहते हैं और कम मजदूरी पर ही काम करते रहते हैं। कम मजदूरी के कारण उनकी प्रति व्यक्ति आय का स्तर नीचा रहता है। जीवन-स्तर नीचा रहता है और श्रम उत्पादकता भी कम रहती है।

परंपरागत कृषि क्षेत्र में सस्ते श्रम की उपलब्धि के कारण उसका व्यापक प्रयोग होता है। इसलिए श्रम - प्रधान तकनीकों का अपेक्षाकृत अधिक इस्तेमाल किया जाता है और मशीनों का कम।

खेती के पुराने तकनीक (Outmoded Farming Techniques)

अधिकतर भारतीय किसान आज भी खेती के पुराने तकनीकों का प्रयोग कर रहे हैं। परंपरागत खेती मानव व पशु श्रम, वर्षा तथा गोबर की खाद पर निर्भर करती है। इस प्रकार की उत्पादन तकनीकों से किसानों को प्राप्त होने वाला प्रतिफल बहुत सीमित होता है और खेती केवल जीवन निर्वाह के लिए साधन उपलब्ध करा पाती है। परंतु 1966 में नई कृषि युक्ति को अपनाने के बाद से देश के कुछ चुने हुए क्षेत्रों में खास तौर पर पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में उत्पादन की नई तकनीकों का

बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाने लगा जिसके कारण इन क्षेत्रों में कृषि उत्पादकता में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। परंतु क्योंकि बहुत सारे राज्यों व क्षेत्रों में अभी भी परंपरागत पुरानी तकनीकों का प्रयोग किया जा रहा है इसलिए देश में एक तरह की द्वयात्मकता (Technological Dualism) पैदा हो गई है।

फसलों के उत्पादन में अनिश्चितता व अस्थिरता (Fluctuations and Instability in Crop output)

जैसा की सर्वविदित है भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर करती है। 1950- 51 में कृषि के अधीन कुल क्षेत्र (Gross cropped area) 13 करोड़ 19 हैक्टर था जबकि कुल सिंचित क्षेत्र केवल दो करोड़ 26 लाख हैक्टर था। इस प्रकार फसलों के अधीन क्षेत्र में से केवल 17.1 प्रतिशत क्षेत्र पर सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध थी। 2013-14 में कृषि के अधीन कुल क्षेत्र 20 करोड़ 9 लाख हैक्टर था जिसमें से 9 करोड़ 58 लाख हैक्टर (अर्थात 47.7 प्रतिशत क्षेत्र) पर सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध थी। इसका अर्थ यह है कि 2013-14 में भी 52 प्रतिशत क्षेत्र मानसून पर निर्भर था। (बाद के वर्षों के लिए आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं)। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में कृषि उत्पादन का स्तर निर्धारित करने में आज भी प्रकृति एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। 1965 के बाद उन्नत किस्म के बीजों का जो कार्यक्रम अपनाया गया है उससे उत्पादन की वर्षा पर निर्भरता (गेहूं को छोड़कर) और अधिक बढ़ गई है। परंतु सी. एच. हनुमंतराव के अनुसार अस्थिरता में वृद्धि का कारण नई तकनीक (हरित क्रांति) नहीं है। इसके लिए वे प्रतिकूल कृषि परिस्थितियां जिम्मेदार हैं जिनमें नई तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है। नई तकनीक के कारण उत्पादन की जल उपलब्धि पर निर्भरता बढ़ गई है। इसके परिणामस्वरूप वर्षा में अनिश्चितता होने पर उत्पादन की अस्थिरता बढ़ जाती है। आर्थिक समीक्षा, 2006-07 के अनुसार, दसवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान 2002, 2004 तथा 2006 में वर्षा की कमी की स्थिति रही जिसके परिणामस्वरूप (1) कृषि संवृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा (2) सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा गिर गया, (3) प्राथमिक वस्तुओं की कमी के कारण स्फीतिकारी दबाव बढ़ गया (4) मांग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने से अन्य क्षेत्रों के संभावित विकास पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।

कृषि क्षेत्र में विविधता और साधारणीकरण की समस्याएं (Diversities in the Agricultural Sector and the Problem of Generalisation)

भारत एक विशाल देश है। भौगोलिक दृष्टि से देश के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत थोड़ी समानता है। मिट्टी, वर्षा, तापक्रम, सतही पानी की उपलब्धि की दृष्टि से अंतर इतने अधिक हैं कि एक राज्य से कुछ जिलों के लिए उपयुक्त कार्यक्रम अन्य राज्यों की दृष्टि से बिल्कुल अनुपयुक्त हो सकता है। वर्षा को ही

लीजिए। जहां बंगाल, असम, मेघालय आदि राज्यों में वर्षा इतनी अधिक होती है कि कृषि को प्रायः बाढ़ से भारी हानि होती है, वहां राजस्थान, पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों में वर्षा थोड़ी है। कुछ क्षेत्रों में जलरोध (Water Logging) और भूमि की सतह पर क्षार एकत्रित हो जाने की समस्याएं हैं परंतु अनेक क्षेत्र ऐसे भी हैं जहां ऐसी समस्याएं नहीं हैं। संपूर्ण भारत में मिट्टी में नाइट्रोजन की कमी है और फास्फेट और पोटैश के तत्व सब कहीं समान नहीं हैं। प्रायः एक ही गांव में कम, अधिक उपजाऊ मिट्टी देखने को मिलती है। इतना ही नहीं। विभिन्न राज्यों में उत्पादन-संबंध अलग-अलग हैं। इसी प्रकार जोतों के आकार तथा उनके उप-विभाजन व अपखंडन की दृष्टि से भी क्षेत्रीय विविधताएं हैं।

अंत में, भारतीय कृषि के संबंध में यह कहना आवश्यक है कि उपयुक्त विविधताओं को देखते हुए कृषि आयोजन व नीति निर्धारण के क्षेत्र में साधारणीकरण करते समय बहुत सतर्कता की आवश्यकता है। सच तो यह है कि साधारणीकरण में अंतर क्षेत्रीय विभिन्नताओं की उपेक्षा होती है। दूसरे शब्दों में, जब ग्राम्य-जीवन की पूरी जटिलता को समझा ही नहीं जाता तो आयोजन की सफलता संदिग्ध रहती है। अतः कृषि विकास की योजना का संपूर्ण योजना के साथ तालमेल होने के साथ-साथ या जरूरी है कि वह स्थानीय, भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप हो।

किसानों की आय दुगुना करना (Doubling Farmers Income)

कृषि के क्षेत्र में सरकार की एक महत्वपूर्ण नीति घोषणा कृषकों की आय को सात वर्ष की अवधि (2015 -16 से 2023) में दुगुना करना है। सुखपाल सिंह के अनुसार, कृषि में उत्पादन बढ़ाने या कृषि की संवृद्धि दर में वृद्धि पर जोर न देकर, किसानों की आय को दुगुना करने की आवश्यकता पर जोर देना, निम्नलिखित कारणों से जरूरी हो गया है : (i) पिछले दो दशकों में कृषि क्षेत्र में संकट और दरिद्रता के चलते, किसानों में खेती में लगे रहने की इच्छा समाप्त हो रही है तथा वे पहला मौका मिलते कृषि व्यवसाय को छोड़ देना चाहते हैं, (ii) अधिकतर मध्य भारत और पूर्वी भारत के किसान परिवार (जिनकी संख्या 25 से 45 प्रतिशत के बीच है) गरीबी की रेखा से नीचे रह रहे हैं ; तथा (iii) कृषि और गैर -कृषि क्षेत्र में आय-अंतराल बहुत बढ़ गया है।

रमेश चन्द के अनुसार 2015-16 से 2022-23 के बीच किसानों की वास्तविक आय को यदि दुगुना करना है तो इसके लिए किसानों की आय में प्रति वर्ष 10.41 प्रतिशत वृद्धि दर प्राप्त करना आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ की किसानों की आय में तेज़ वृद्धि करनी होगी। इसलिए कृषि क्षेत्र के भीतर तथा कृषि क्षेत्र में बाहर से बहुत से मजबूत कदम उठाने होंगे जिससे किसानों की आय बढ़ सके। जहाँ तक कृषि क्षेत्र के भीतर संवृद्धि के स्रोत हैं उनमें महत्वपूर्ण हैं : (i) उत्पादकता में वृद्धि ;

(ii) संसाधनों के प्रयोग में कुशलता जिससे उत्पादन लगत को काम किया जा सके; (iii) फसलों की गहनता (cropping intensity) में वृद्धि ; तथा (iv) उच्च मूल्य की फसलों का और अधिक उत्पादन। कृषि से बाहर संवृद्धि के महत्वपूर्ण स्रोत हैं : (i) काश्तकारों को खेतों से हटा कर गैर-खेती कामों में लगाना; तथा (ii) किसानों के लिए व्यापार की शर्तों को और बेहतर बनाना (या किसानों को प्राप्त होने वाली वास्तविक कीमतों में वृद्धि करना)। के जे एस सत्यसाई तथा एन मनोहोत्रा ने इस बात पे जोर दिया है की पूरे देश के लिए एक ही द्रष्टिकोण अपनाने के स्थान पर, यह बेहतर होगा की वर्षा-अछित क्षेत्रों पर, पूर्वी क्षेत्र पर, तथा छोटे किसानों पर ज्यादा ध्यान दिया जाए। सुखपाल सिंह के अनुसार, यह तर्क सही है क्योंकि जनसंख्या का 43 प्रतिशत तथा कृषि क्षेत्र का 60 प्रतिशत से अधिक क्षेत्र शुष्क या वर्षा आश्रित क्षेत्र है। फिर भी मात्र सात वर्ष की अवधि में 2022-23 तक किसानों की आय को दुगुना कर पाना अत्यन्त चुनौतीपूर्ण कार्य है खासतौर पर यदि इस बात का ध्यान रखा जाए की किसानों की आय को इससे पहले दुगुना होने में 22 वर्ष लगे थे (1993-94 में 21,110 रूपए से बढ़ कर 2015-16 में 44,027 रूपए)

कृषि को प्रभावित करने वाले कारक

किसी भी क्षेत्र की कृषि की विशेषता व प्रकार पर अनेक भौतिक, आर्थिक, सामजिक, सांस्कृतिक, राजनितिक तथा प्राविधिक कारकों का प्रभाव पड़ता है। ये निम्नलिखित हैं :

भौतिक कारक : कृषि की विशेषता पर सर्वाधिक प्रभाव भौतिक कारकों का पड़ता है। भौतिक कारक ही विश्व में कृषि प्रदेशों और फसलों के उत्पादन की सीमा को भी निश्चित करते हैं। कृषि को प्रभावित करने वाले भौतिक कारक निम्नलिखित हैं :

- (i) **धरातल** : धरातलीय दशाएं कृषि को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं , क्योंकि धरातल के आधार पर विभिन्न फसलों का उत्पादन एवं कृषि कार्य किया जाता है। धरातल की दो प्रमुख विशेषताएं हैं ,जिनका प्रभाव कृषि पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है - धरातलीय उंचाई तथा धरातलीय ढाल। धरातल की उंचाई अधिक होने पर हवा का दबाव कम हो जाता है तथा जलवायु शीतल हो जाती है , जिससे फसलों का बदलना स्वभाविक है। हिम रेखा पर पहुँचते

- पहुँचते कृषि कार्य पूर्णरूपेण समाप्त हो जाता है। धरातल की ढाल कृषि कार्य में सहायक या बाधक होता है। धरातल का मंद ढाल, जल-निकास तथा जुताई के लिए उपयुक्त होता है, परन्तु तीव्र ढाल पर जुताई न हो पाने से तथा मिट्टी कटाव से मिट्टी का अस्तित्व नहीं रह पाता।

- (ii) **जलवायु की दशाएं** : कृषि पर सर्वाधिक प्रभाव तापमान और वर्षा का पड़ता है। तापमान की दशाओं में भिन्नता के साथ कृषि में भी भिन्नता पायी जाती है। फसलों के लिए औसत तापमान 10° सेंटीग्रेड से लेकर 28° सेंटीग्रेड तक माना गया है। फसलों के उत्पादन पर वर्षा की मात्रा का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। विश्व के अधिक वर्षा वाले प्रदेशों में तथा कम वर्षा वाले प्रदेशों में एक ही प्रकार की कृषि नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए भारत के उत्तरी विशाल मैदान में वर्षा की मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर क्रमशः घटती जाती है और फसलों के प्रकार भी वैसे ही बदलता जाता है। वर्षा की मात्रा 20 सेंटीमीटर वार्षिक से कम रह जाने पर किसी भी फसल का उत्पादन संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त वायु की दिशा एवं गति, पाला, कोहरा, कुहासा, हिमपात, ओला - वृष्टि तथा सूर्य, प्रकाश आदि भी जलवायु के तत्व के रूप में फसलों को प्रभावित करती हैं।
- (iii) **मिट्टी** : मिट्टी कृषि के लिए एक महत्वपूर्ण कारक है। फसलों के लिए उपजाऊ मिट्टी आवश्यक होती है। विश्व में कृषि की दृष्टि से काप, कछार या दोमट मिट्टियाँ सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। बलुई, नमकीन या दलदली मिट्टी कृषि के लिए उपयुक्त नहीं होती। इसलिए मरुस्थलों एवं दलदलों में कृषि का विकास बहुत कम हुआ है। मिट्टी की गहरायी भी फसलों के प्रकार को बदल देती है।

आर्थिक कारक : कृषि को प्रभावित करने वाले प्रमुख आर्थिक कारक निम्नलिखित हैं :

- (i) **बाजार की निकटता** : कोई भी क्षेत्र बाजार से कितना निकट है, यह भी कृषि को प्रभावित करता है। इसलिए बाजारों के समीप साग-सब्जियाँ, शीघ्र नष्ट होने वाले फल तथा दुग्ध का उत्पादन किया जाता है। दूर स्थित ग्रामीण अंचलों में खाद्यान्न एवं उद्योगों के लिए कच्चा माल उत्पादित किया जाता है।
- (ii) **आवागमन के साधन** : कृषि में आवागमन के साधनों का प्रभाव महत्वपूर्ण तथ्य है। अगर उत्पादन क्षेत्र से बाजार अधिक दूर स्थित है तो परिवहन लागत अधिक आएगी और बाजार नज़दीक है तो परिवहन व्यय कम लगेगा, जिससे किसान को अधिक लाभ प्राप्त होगा। दुग्ध उद्योग तथा ट्रक फार्मिंग जैसे कृषि पद्धतियों में त्वरित परिवहन आवश्यक होता है। अतः आवागमन के साधनों का कृषि के विकास में प्रभावी भूमिका होती है।
- (iii) **श्रम**: विश्व के अधिकांश विकासशील देशों में कृषि अभी श्रमिकों पर आधारित है। कृषि करने के लिए पर्याप्त मात्रा में कुशल एवं सस्ते श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। श्रमिकों की अधिकता के कारणही दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में रबर की कृषि का विकास हो सका

है , जबकि ब्राजील , जो रबर उत्पादन का आदि स्थल है , लेकिन श्रमिकों की कमी के कारण वहां इस कृषि का विकास नहीं हो सका।

- (iv) **पूंजी** : पूंजी भी कृषि के लिए आवश्यक तत्व है। इसके आभाव में अच्छे किस्म के बीज , खाद , सिंचाई के साधनों , नवीन कृषि उपकरणों , भण्डार आदि की सुव्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए विकासशील देशों में जहाँ अधिकांश कृषक गरीब हैं , कृषि भी आभावग्रस्त रहती है। विकसित देशों के कृषकों के पास पर्याप्त पूंजी है , फलतः वहां कृषि का विकास अधिक हुआ है।

सामाजिक कारक : कृषि को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारक अधोलिखित हैं :

- (i) **जनसंख्या** : कृषि का मुख्य उद्देश्य जनसंख्या का भरण - पोषण करना है , फलतः जिन कृषि प्रदेशों में अधिक जनसंख्या निवास करती है वहां कृषि फार्मों का आकार छोटा होता है। मानव श्रम का प्रयोग अधिक होता है तथा गहन निर्वहन कृषि की जाती है। इसके विपरीत जिन कृषि प्रदेशों में कम जनसंख्या निवास करती है , वहां पर फार्मों का आकार बड़ा होता है। इन कृषि फार्मों में मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है तथा विस्तृत व्यापारिक कृषि की जाती है।
- (ii) **मानव भोजन की रुचि** : मानव की भोजन रुचि का भी कृषि पर प्रभाव पड़ता है। उष्णार्द्र प्रदेशों के निवासी ज्यादातर चावल खाते हैं। अर्धशुष्क प्रदेशों में गेहूं का चलन ज्यादा है। शीतोष्ण प्रदेशों में अनाज की जगह सब्जी , फल , मांस , दूध एवं दुग्ध उत्पाद को अधिक महत्व दिया जाता है , फलतः यहाँ इन्हीं फसलों का उत्पादन किया जाता है।
- (iii) **शिक्षा का स्तर** : कृषकों के शिक्षा का स्तर भी कृषि को प्रभावित करता है। शिक्षित कृषक अशिक्षित कृषकों की अपेक्षा उचित बीज , खाद , कृषि उपकरण तथा कीटाणु नाशक दवाओं का चुनाव आसानी से कर लेता है , फलतः अधिक उत्पादन प्राप्त करता है।

सांस्कृतिक कारक: कृषि को प्रभावित करने वाले सांस्कृतिक कारकों में परम्पराएं , धार्मिक विश्वास आदि आते हैं। भारत , पाकिस्तान , बांग्लादेश , श्रीलंका , म्यांमार तथा चीन आदि मॉनसून एशिया के देशों में कृषक परम्परागत ढंग से कृषि करता आ रहा है। यही कारण है कि उन देशों में आज के वैज्ञानिक युग में भी कृषि अविकसित दशा में है। इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में कृषकों ने नवाचारों को शीघ्र अपनाया है। अतः वहां कृषि अत्यधिक विकसित है।

धार्मिक भावना भी कृषि को प्रभावित करती है। जैसे - मध्य पूर्व तथा उत्तरी अफ्रीकी देशों में , जहाँ मुस्लिम संस्कृति पायी जाती है , वहां सूअर पालन नहीं किया जाता। भारत में जैन व ब्राह्मण मूलतः शाकाहारी होते हैं। चीन तथा तिब्बत में बौद्ध धर्मावलम्बियों द्वारा मांस खाना वर्जित है , लेकिन मछलियां अधिक खायी जाती हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक कारक कृषि को प्रभावित करते हैं।

राजनितिक कारण : राजनितिक नीतियों , सरकारी नियंत्रण व हस्तक्षेप का प्रभाव कृषि पर पड़ता है। उदाहरण के लिए , जब इण्डोनेशिया में रबर बागान का विकास किया गया तो जावा के प्रत्येक किसान को अपनी कृषिगत भूमि के 20 प्रतिशत भाग पर रबर बागान लगाना आवश्यक कर दिया गया। यही कारण है कि यह देश आज विश्व रबर का अग्रणी उत्पादक देश है। ऑस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड का संयुक्त राज्य अमेरिका एवं यूरोपीय देशों से अच्छे राजनितिक सम्बन्ध होने के कारण ही दुग्ध एवं मांस व्यवसाय उन्नत स्थिति में हैं। इसके विपरीत चीन में गेहूँ कि कृषि शासन (सरकार) द्वारा लगाए गए टैक्स से प्रभावित है।

प्राविधिक कारक : वर्तमान समय में कृषि का विकास प्राविधिक उन्नति पर निर्भर करता है। जिस प्रदेश का प्राविधिक ज्ञान जितना विकसित होता है , वह प्रदेश कृषि द्वारा उतना ही लाभ कमाता है। जिस प्रदेश में प्राविधिक ज्ञान उन्नति नहीं कर पाया है, वहां निर्वाहमूलक कृषि अर्थव्यवस्था पायी जाती है। उदाहरणार्थ - ऑस्ट्रेलिया , न्यूजीलैंड एवं अर्जेंटीना प्राविधिक विकास के कारण ही अपने यहाँ पशुपालन कृषि का विकास कर अधिकाधिक लाभ अर्जित कर रहे हैं।

कृषि के प्रकार

(Types of Agriculture)

भूमि की उपलब्ध मात्रा के अनुसार कृषि के प्रकार

कृषि भूमि की उपलब्धता के आधार पर सामान्यतः दो प्रकार की कृषि पाई जाती है :

(i) गहरी कृषि (Intensive Cultivation) : कम क्षेत्र से अधिकतम उत्पादन होने की कला को गहरी कृषि या गहन कृषि कहा जाता है। इस प्रकार की कृषि में छोटे - छोटे खेतों से अधिक पूंजी व श्रमिकों की सहायता से विभिन्न फसलों से अधिकाधिक उत्पादन लेने के प्रयत्न किये जाते हैं। इसके लिए उत्तम बीज , खाद , सिंचाई , फसल - चक्र तथा कीटाणु नाशक दवाओं की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार की कृषि का विकास प्रायः अधिक जनसंख्या का कृषि युक्त भूमि पर अधिकतम दबाव के परिणामस्वरूप हुआ है। चीन , जापान, इंडोनेशिया , बांग्लादेश , भारत व अन्य दक्षिण पूर्वी एशिया के देश , ब्रिटेन, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम , जर्मनी तथा डेनमार्क आदि यूरोपीय देशों में इस प्रकार की कृषि का व्यापक प्रचलन है।

(ii) **विस्तृत कृषि (Extensive Cultivation)** :विरल जनसंख्या के विस्तृत क्षेत्रों में आधुनिक तरीके से की जाने वाली कृषि को विस्तृत कृषि कहा जाता है। इस प्रकार की कृषि में विशाल फार्म होते हैं। सारा कृषि कार्य यंत्रों द्वारा किया जाता है। अधिकतर फसलें व्यापारिक दृष्टिकोण से बोयी जाती हैं। रूस ,यूक्रेन , संयुक्त राज्य अमेरिका ,ऑस्ट्रेलिया , कनाडा , ब्राजील तथा अर्जेंटीना जैसे देशों में विस्तृत कृषि की प्रधानता है।

जल की उपलब्धता के आधार पर

जल की उपलब्धता के आधार पर कृषि निम्न चार प्रकार की होती है :

(i) **नम/तर कृषि (Wet Farming)** : जिन क्षेत्रों में औसत वार्षिक वर्षा 200 सेमी. से अधिक होती है ,वहां इस प्रकार की कृषि की जाती है। इस प्रकार की कृषि में सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती है ,फलतः उत्पादन लगत घाट जाता है। इंडोनेशिया ,कम्बोडिया , मलेशिया , सिंगापुर,वियतनाम ,श्रीलंका, दक्षिण भारत में केरल तथा उत्तर-पश्चिम यूरोप में इस प्रकार की खेती की जाती है।

(ii) **आर्द्र कृषि (Humid Farming)** :जिन क्षेत्रों में औसत वार्षिक वर्षा 100 -200 सेमी. होती है ,वहां इस प्रकार की कृषि की जाती है। विश्व की कृषि योग्य भूमि का सबसे अधिक भाग इसी प्रकार कृषि के अंतर्गत है। इस कृषि में सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रायः वर्ष में दो या तीन फसलें उत्पादित की जाती हैं। भारत, चीन,बांग्लादेश,संयुक्त राज्य अमेरिका ,विस्तृत कृषि वाले यूरोपीय देशों तथा भूमध्यसागरीय प्रदेशों में इस प्रकार की कृषि की जाती है।

(iii) **सिंचित कृषि (Irigated Farming)** : जिन क्षेत्रों में औसत वार्षिक वर्षा 50 -100 सेन्टीमी. होती है तथा वर्षा अनियमित ,अनिश्चित एवं मौसम विशेष में होती है और तापमान वर्ष भर कृषि उत्पादन के अनुकूल होता है, वहां कृषि कार्य सिंचाई द्वारा होता है।

चीन,भारत,पाकिस्तान,अफगानिस्तान,ईरान,इराक,मिश्र,दक्षिणी रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया में इस प्रकार की कृषि की जाती है।

(iv) **शुष्क कृषि (Dry Farming)** :जिन क्षेत्रों में औसत वार्षिक वर्षा 50 सेमी. से कम होती है, वहां इस प्रकार की कृषि की जाती है। इस प्रकार की कृषि में भूमि की गहरी जुतायी की जाती है,जो भी जल भूमि पर गिरे उसे गहरे भागों में सुरक्षित रखा जा सके। जल के गिरने क बाद दिन में जोती गई भूमि की मिटटी से ढंक दिया जाता है ,ताकि वाष्पीकरण की क्रिया न हो तथा रात में मिटटी हटा दी जाती है,जिससे भूमि को ओस का लाभ मिल सके। इस क्रिया को निरंतर करने से भूमि को इतनी नमी प्राप्त

हो जाती है की उसमें खेती की जा सके। शुष्क कृषि की जाने वाली भूमि साधारणतः बलुई ,काली अथवा चिकनी दोमट मिट्टी होती है। इसमें मुख्यतः मोठे अनाज पैदा किये जाते है। संयुक्त राज्य अमेरिका (ग्रेट ब्रेसिन ,कोलंबिया तथा स्केन नदी बेसिन), ऑस्ट्रेलिया,कनाडा,पश्चिमी एशिया ,दक्षिण अफ्रीका,भारत(गुजरात,राजस्थान,दक्षिणी पंजाब) तथा रूस (कैस्पियन सागर के उत्तरी भाग) में इस प्रकार की कृषि की जाती है।

उद्देश्य के आधार पर कृषि के प्रकार

उद्देश्य के आधार पर कृषि निम्न तीन प्रकार की होती है :

- (i) **जीवन निर्वाहक कृषि (Subsistence Farming)** : जिन क्षेत्रों में अधिक जनसँख्या निवास करती है तथा कृषि योग्य, भूमि कम होती है, वहां इस प्रकार की कृषि की जाती है। अधिकांश , उत्पादन जनसँख्या के भरण - पोषण हेतु प्रयोग में आता है। मॉनसून एशिया नाइजीरिया , इथोपिया , सोमालिया , चाड तथा मलागासी आदि देशों में इस प्रकार की कृषि की जाती है।
- (ii) **बागानी कृषि (Plantation Farming)** : उष्ण एवं उपोष्ण कटिबंधीय देशों में उपयुक्त जलवायु के कारन विशेष प्रकार की बागानी कृषि की जाती है, जिसका मुख्य उद्देश्य निर्यात पर आधारित फसलों का उत्पादन करना है। इस प्रकार की कृषि की मुख्य फसलें , रबर, चाय, कहवा, कोको, नारियल तथा केला है। बागानी कृषि में पर्याप्त पूँजी तथा कुशल व अधिक श्रमिक की आवश्यकता होती है। दक्षिण - पूर्वी एशिया , मध्य एवं दक्षिणी अफ्रीका , ब्राज़ील, पूर्वी ऑस्ट्रेलिया, हवाई द्वीप , फिजी तथा मॉरीशस आदि देशों में यह कृषि व्यापक रूप में की जाती है।
- (iii) **ट्रक फार्मिंग (Truck Farming)** : नगरों के समीपवर्ती क्षेत्रों में स्थानीय मांग को पूरा करने के लिए इस प्रकार की कृषि की जाती है। बाजार की समीपता , परिवहन की सुविधा तथा उत्पादों की खपत ट्रक फार्मिंग के मूल आधार हैं। इसके उत्पादन पर मिट्टी और जलवायु का प्रभाव नगण्य होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका , यूरोपीय देशों , जापान , भारत , चीन तथा ऑस्ट्रेलिया आदि देशों के विशाल नगरों के समीप इस प्रकार की कृषि पायी जाती है, लेकिन त्वरित परिवहन के विस्तार एवं चल शीत गृहों की सुविधा के कारण अब इस प्रकार की कृषि नगरों से दूर भी की जाने लगी है।

कृषि के अन्य प्रकार :

- (i) **झूमिंग कृषि** : इस प्रकार की कृषि आदिवासियों द्वारा अफ्रीका , दक्षिणी अमेरिका एवं दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के दुर्गम प्रदेशों में की जाती है। यह जंगलों को साफ़ करके की जाती है तथा कालांतर में मिट्टी के अपक्षालन के कारण उसकी उत्पादन शक्ति घटने और साफ़ की गयी वनस्पति के अनियंत्रित रूप से पुनः उगने के कारण खेत छोड़कर कृषक अन्यत्र नए जंगल साफ़ करते हैं और कृषि

करते हैं। इस प्रकार की कृषि में मानवीय श्रम ही सर्वोपरि होता है। इसमें केवल कुदाल, हंसिया तथा खुरपी आदि पुरातन यंत्रों का प्रयोग होता है।

(ii) **सीढ़ीनुमा खेती (Terraced farming)** : इस प्रकार की कृषि पहाड़ी प्रदेशों में की जाती है। पहाड़ी ढालों पर छोटे छोटे सीढ़ीनुमा खेत बना लिए जाते हैं और उन्हें कम ऊंचाई की मेढ़ों से घेर दिया जाता है, ताकि जल बहाव को नियंत्रित किया जा सके तथा भूक्षरण को रोका जा सके। इस कृषि में सब्जी, मक्का, चावल तथा चाय की खेती की जाती है। चीन, जापान, इंडोनेशिया, उत्तर - पूर्वी भारत, हिमालय के ढालों, हिन्द चीन, श्रीलंका तथा स्विट्ज़रलैंड में इस प्रकार की कृषि की जाती है।

(iii) **मिश्रित कृषि (Mixed Farming)** : इस कृषि में फसलोत्पादन तथा पशुपालन दोनों कार्य साथ - साथ किए जाते हैं। कुछ फसलें पशुओं के चारे के लिए तथा अधिकांश फसलें खाद्यान्न एवं विक्रय के लिए पैदा की जाती हैं। फसलों के उत्पादन में फसल चक्र प्रणाली अपनायी जाती है। पशुओं में भेड़, सूअर, गाय, बैल, बकरियां तथा मुर्गियां मुख्य हैं, जिनका पालन ऊन, मांस, चमड़ा तथा अंडा प्राप्त करने के लिए किया जाता है। पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोशिया , मध्य मैक्सिको , अर्जेंटीना आदि देशों में इस प्रकार की कृषि की जाती है।

भारत में भू-धारण प्रणालियां

(LAND TENURE SYSTEMS IN INDIA)

भारत में भूमि -सुधार कार्यक्रमों को लागू करने की दिशा में कार्य प्रारम्भ होने से पहले भू - धारण की तीन प्रणालियां-जमींदारी,महालवाड़ी,और रैयतवाड़ी थीं।

जमींदारी प्रथा- इस देश में **जमींदारी प्रथा का प्रारम्भ ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में हुआ था।** इससे पहले भूमि पर किसानों का स्वामित्व था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के गवर्नर-जनरल कार्नवालिस ने आय बढ़ने के उद्देश्य से इस देश में **स्थायी बंदोबस्त (permanent settlement)**

किया जिसके आधार पर जमींदारों को जहाँ एक ओर लगन एकत्रित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया वहाँ उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों का मालिक भी बना दिया गया।प्रारम्भ में जमींदारों को किसानों से एकत्रित लगन का 10/11 भाग राज्य को देना होता था और शेष 1/11 भाग वे अपने पास रखते थे। अंग्रेज शासकों का जमींदारी प्रथा के विषय में विश्वास था की इससे जमींदारों का भूमि में हित उत्पन्न हो जाने के कारण कृषि विकास होगा। उनका विचार था की इससे जमींदारों को खेती में निवेश करने के लिए प्रेरणा मिलेगी।

परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। जमींदारों की वास्तव में केवल एक ही दिलचस्पी थी - वे अपने विलासी जीवन के लिए किसानों से अधिक से अधिक लगन वसूल करना चाहते थे।

जमींदारी प्रथा के दोष - जमींदारी प्रथा कृषि विकास और सामाजिक न्याय दोनों पहलुओं से अनुपयुक्त सिद्ध हुई संक्षेप में इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :

1. विकास में बाधा- उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कृषि विकास में सबसे बड़ी बाधा कृषि क्षेत्र में मध्यस्थों की मौजूदगी थी। सच तो यह है की जमींदारी प्रथा के कारण इस काल में भारतीय गावों में कानूनी, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था बन गई थी जिससे उत्पन्न प्रभाव को डिनायल थोर्नर एक ढांचागत बाधा मानते हैं। इस प्रभाव के कारण कृषि में आधुनिकीकरण नहीं हो सका। किसानों को निवेश करने के लिए कोई नहीं थी और उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी परम्परागत ढंग से खेती को जारी रखा। वास्तव में 1880 में बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक तक कृषि क्षेत्र में गतिहीनता (stagnation) की स्थिति बानी रही।

2. मध्यस्थों की बड़ी संख्या - जमींदारी प्रथा में सरकार और काश्तकारों के बीच एकमात्र मध्यस्थ जमींदार न होकर बहुत सारे बिचौलिये होते थे। अक्सर जमींदारों से पटनीदार भूमि को लगान पे लेते थे और वे जमीन अपने से निचे के लोगों को लगान पे दे डालते थे। इस प्रकार बहुत सारे बिचौलिए उत्पन्न हो गए थे। बंगाल में तो अनेक स्थानों पर जमींदार और जमीन जोतने वाले वास्तविक किसानों के बीच 50 से भी अधिक मध्यस्थ उत्पन्न हो गए थे। मध्यस्थों का यह सम्पूर्ण वर्ग लगानजीवी था और इसका उत्पादन कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं था। कृषि क्षेत्र में इस वर्ग की मौजूदगी के कारण ' आर्थिक आधिक्य ' की बर्बादी स्वाभाविक थी।

3. शोषण - जमींदारी प्रथा शोषण पर आधारित प्रणाली थी। इसमें जमींदारों को किसानों से मनमाना लगान वसूल करने का अधिकार था। हर्षदेव मालवीय के अनुसार देश में लगान की दर उत्पादन की 34 से 75 प्रतिशत तक थी।² राष्ट्रीय आय का इतना बड़ा भाग एक अनुत्पादक वर्ग के द्वारा गरीब किसानों का शोषण कर हथिया लेना अन्यायपूर्ण तो था ही साथ ही यह पूंजी निर्माण तथा आर्थिक निवेश की दृष्टि से भी गलत था।

जमींदार के द्वारा किसानों के शोषण का पूरा अनुमान लगान की राशि से नहीं हो सकता। जमींदार किसानों से लगान के अतिरिक्त बेगार लेते थे। किसानों को उन्हें भेंट अथवा नजराना आदि भी देना होता था। जमींदार से ऋण ले लेने पर तो किसान की स्थिति भूदास जैसी हो जाती थी। सच तो यह है कि

लगान न दे पाने पर अथवा किसी अन्य कारण से काश्तकारों तथा उनके परिवार के लोगों को जमींदारों और उनके कारिन्दों के हाथों पिटना भी पड़ता था।

महालवाड़ी व्यवस्था (Mahalwari System)

इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर ग्राम समुदाय का सामूहिक अधिकार होता था। इस समुदाय के सदस्य अलग-अलग या फिर संयुक्त रूप से लगान की अदायगी कर सकते थे। सरकारी लगान को एकत्र करने के प्रति पूरा महाल या क्षेत्र सामूहिक रूप से जिम्मेदार होता था। महाल के अन्तर्गत छोटे व बड़े सभी स्तर के जमींदार आते थे। महालवाड़ी व्यवस्था का प्रस्ताव सर्वप्रथम 1819 ई. में 'हाल्ट मैकेंजी' द्वारा लाया गया। इस प्रस्ताव को 1822 के रेगुलेशन - VII द्वारा कानूनी रूप प्रदान किया गया। यह व्यवस्था उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त एवं पंजाब में सर्वप्रथम लागू की गई। महालवाड़ी व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत की भूमि का लगभग 30% भाग सम्मिलित था। इस व्यवस्था में प्रारम्भ में लगान की दर कुल उपज का 80 % निश्चित की गयी, कालान्तर में विलियम बैंटिक ने मार्टिन बर्ड, जिन्हें उत्तरी भारत में भूमि कर व्यवस्था का प्रवर्तक माना जाता है, के सहयोग से 1833 का रेगुलेशन-IX पारित करवाया जिसके अनुसार, इस दर को कम करके 66 % कर दिया। पुनः 1855 ई. में सहारनपुर नियम के अनुसार डलहौज़ी ने लगान की दर को 50 % निश्चित किया। इस व्यवस्था का परिणाम भी कृषकों के प्रतिकूल रहा, परिणामतः 1857 के विद्रोह में इस व्यवस्था से प्रभावित बहुत से लोगों ने हिस्सा लिया।

रैयतवाड़ी व्यवस्था (The Rayotwari System)

इस व्यवस्था में प्रत्येक पंजीकृत भूमिदार भूमि का स्वामी होता था जो सरकार को लगान देने के लिए उत्तरदायी होता था। इसके पास भूमि को रेहन रखने व बेचने का अधिकार होता था। भूमि कर न देने की स्थिति में उसे भूस्वामित्व के अधिकार से वंचित होना पड़ता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार का रैयत से सीधा सम्पर्क होता था। रैयतवाड़ी व्यवस्था को मद्रास तथा बम्बई एवं असमके अधिकांश भागों में लागू किया गया।

रैयतवाड़ी भूमि कर व्यवस्था को पहली बार 1792 ई. में मद्रास के 'बारामहल' जिले में लागू किया गया। टामस मुनरो जिस समय मद्रास का गवर्नर था, उस समय उसने कुल उपज के तीसरे भाग को

भूमि कर का आधार मान कर मद्रास में इस व्यवस्था को लागू किया। मद्रास में यह व्यवस्था लगभग 30 वर्षों तक लागू रही। इस व्यवस्था में सुधार के अन्तर्गत 1855 ई. में भूमि की पैमाइश तथा उर्वरा शक्ति के आधार पर कुल उपज का 30% भाग लगान के रूप में निर्धारित किया गया। परन्तु 1864 ई. में कम्पनी सरकार ने भू-भाटक को 50% निश्चित कर दिया।

बम्बई में 1835 ई. में लेफ्टिनेंट विनगेट के भूमि सर्वेक्षण के आधार पर रैय्यतवाड़ी व्यवस्था लागू की गई। इसमें भूमि की उपज की आधी मात्रा सरकारी लगान के रूप में निश्चित की गई। कालान्तर में इसे 66% से 100% के मध्य बढ़ाया गया। परिणामस्वरूप दक्कन में 1875 ई. में कृषकों ने विद्रोह कर दिया जिसके कारण सरकार ने 1879 में दक्कन कृषक राहत अधिनियम पारित किया। बम्बई की रैय्यतवाड़ी पद्धति अधिक लगान एवं लगान की अनिश्चितता जैसे दोषों से युक्त थी। किसानों को इस व्यवस्था में अधिक लगान लिए जाने के विरुद्ध न्यायालय में जाने की अनुमति नहीं थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी की भूमि कर की इस नयी प्रणाली का परिणाम भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए बड़ा भयानक रहा। धीरे-धीरे भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं भारतीय कृषि का रूप बदलने लगा। अब उत्पादन के ऐसे साधन प्रयोग में लाये जाने लगे जिसमें धन की आवश्यकता पड़ती थी। इससे मुद्रा अर्थव्यवस्था एवं कृषि के वाणिज्यीकरण को प्रोत्साहन मिला।